दो कहानियां

रवीन्द्र साहित्य

क्षुधित पाषाण

जीवित और मृत

इस पुस्तक की विश्व की
अनेक भाषाओं में करोड़ों प्रतियां
बिक चुकी हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861-1941) के बहुमुखी साहित्य को विलक्षण और सफल साधना कहा जा सकता है। वह केवल कुशल कथाकार ही नहीं थे बल्कि उन्होंने साहित्य की बहुत-सी विधाओं का संस्कार किया और उन्हें भारतीय संदर्भ और पहचान देकर विश्व-साहित्य के समकक्ष ला खड़ा किया।

टैगोर ने लगभग नब्बे कहानियों की रचना की; इनकी अधिकतम कहानियां अपनी औपचारिक समाप्ति के बाद भी हमारे मन में एक अजीब-सा कौतूहल और जिज्ञासा का भाव जगाये रखती हैं और इस बात का बार-बार अहसास कराती हैं कि कहानी भले ही खत्म हो गई उसका वक्तव्य या अनुरोध अब भी उसी तीव्रता के साथ मौजूद है... इतने वर्षों के बाद भी।

1913 में उन्हें उनके काव्य-संग्रह गीतांजलि के लिए साहित्य के नोबेल पुरस्काबर से सम्मानित किया गया जिसका अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ।

~

'रवीन्द्रनाथ का साहित्य जीवन का साहित्य और भारत की आत्मा का साहित्य है। श्री धन्यकुमार जैन के अनुवाद को कोई निष्पक्ष आदमी अप्रामाणिक और हलका नहीं कह सकता।' — 'ज्ञानोदय'

'उन्होंने बंग्ला में लिखा परन्तु उनके मानस की व्यापकता को भारत के किसी भाग तक परिसीमित नहीं किया जा सकता। वह तत्त्वत: भारतीय थे और इसके साथ ही सम्पूर्ण मानवता को घेरे हुए थे। वह एक साथ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय थे।' — जवाहरलाल नेहरू

अनुवादक धन्यकुमार जैन : एक परिचय

'श्री धन्यकुमार जैन जैसे सिद्धहस्त व्यक्ति द्वारा किये-हुए अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध में कुछ भी कहना व्यर्थ है। मूल बंग्ला-सा ही रस हिन्दी में उपलब्ध है।' — 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली

रवीन्द्रनाथ की विभिन्न पुस्तकों का कई महानुभावों ने समय-समय पर अनुवाद किया है लेकिन उनकी (कवि की) स्वप्निल भावनाओं के अनुरूप हिन्दी केवल श्री धन्यकुमार जैन ही प्रस्तुत कर सके हैं। श्री जैन ने रवीन्द्र को हिन्दी का ही बना डाला। 'नया जीवन' की ओर से हम इस साधक के ललाट पर अभिनन्दन का तिलक लगाते हैं।' — 'नया जीवन', सहारनपुर

'श्री जैन का प्रयास निस्सन्देह बहुत ही सराहनीय है। रवि बाबू के साहित्य का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत कर आपने हिन्दी-जगत् की बड़ी सेवा की है। हिन्दी-जगत् आपकी इस महत्त्वपूर्ण सेवा को कभी भूल नहीं सकता। ऐसा करके आपने हिन्दी-साहित्य के भण्डार को भरा है और उसके गौरव को बढ़ाया है। अनुवाद बड़ा सुन्दर, चुस्त और बोधगम्य हुआ है। इन अनुवादों के लिए हिन्दी-जगत् सदैव आपका ऋणी रहेगा।' — 'नवशक्ति', पटना

'जहां तक कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ग्रन्थों के अनुवाद का प्रश्न है, श्री धन्यकुमार जैन का नम्बर सबसे ऊपर आता है। उन्होंने तो अपने जीवन का यह लक्ष्य ही बना लिया है कि वह गुरुदेव की रचनाओं को हिन्दी-जनता के सम्मुख लायेंगे। रवीन्द्र-साहित्य के लिए उन्होंने अनुपम कार्य किया है।' — श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

रवीन्द्र बाबू के उत्कृष्ट विचारों और बेहतर अभिव्यक्ति का एक दूसरी भाषा में अनुवाद करना वास्तव में बहुत कठिन चुनौती है और केवल वही यह उद्यम कर सकते हैं जिन्हें बंग्ला और विशेष रूप से रवीन्द्र साहित्य का पर्याप्त ज्ञान हो। सौभाग्य से धन्य कुमार जैन एक ऐसे विद्वान् है जो बंग्ला और हिन्दी दोनों में पूरी तरह सक्षम हैं। — अमृत बाज़ार पत्रिका

पारलौकिक कहानियां

क्षुधित पाषाण

जीवित और मृत

दो कहानियां

रवीन्द्रनाथ टैगोर

Contents

क्षुधित पाषाण

मैं अपने एक आत्मीय के साथ दुर्गा-पूजा की छुट्टियों में देश-भ्रमण करके कलकत्ता लौट रहा था। अकस्मात् रेल में एक सज्जन से भेंट हो गई और बातचीत का सिलसिला जम गया। उनका पहनावा देखकर पहले तो मुझे यह भ्रम हुआ कि शायद वह दिल्ली वाले मुसलमान हैं लेकिन उनकी बातें सुनकर मैं भूलभुलैया में पड़ गया। संसार के प्रत्येक विषय के बारे में वह इस ढंग से बातचीत करने लगे कि मानो विश्वविधाता सब काम उनसे परामर्श करके करते हों!

वह बताने लगे, तमाम दुनिया में भीतर-ही-भीतर कैसी-कैसी बिन-देखी और बिन-सुनी गूढ़ घटनाएं हो रही हैं, रूसी लोग कितने आगे बढ़ गये हैं और बढ़ते जा रहे हैं, अंग्रेज़ लोग कैसे-कैसे गुप्त इरादे बांध रहे हैं, भारत की देशी रियासतों में न-जाने कैसी एक खिचड़ी-सी पकती जा रही है और हम इन सभी बातों से बिलकुल अनभिज्ञ रहकर कैसे निश्चिन्त पड़े खर्राटे ले रहे हैं, वगैरह-वगैरह। अन्त में उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, 'There happen more things in heaven and earth, Horatio, than are reported in your newspapers.' अर्थात् 'होरेशिओ, तुम्हारे इन अख़बारों में छपने वाली ख़बरों से ज़मीन और आसमान में कहीं ज्यादा वारदातें हुआ करती हैं।'

असल में, अबकी बार हम पहली बार घर से बाहर निकले थे इसलिए उनकी बातचीत और रंग-ढंग देखकर दंग रह गये। हज़रत ज़रा-ज़रा-सी बात पर चट से कभी विज्ञान का, कभी वेद का और कभी फारसी बातों का ऐसा हवाला दे बैठते कि हमारी अक्ल ही काम न करती। वेद, विज्ञान और फारसी-भाषा में हमारा कोई दखल न होने से उनके प्रति हमारी श्रद्धा बराबर बढ़ती ही गई। यहां तक कि मेरे थियोसोफिस्ट मित्र के मन में यह बात जमकर बैठ गई कि उनका किसी अलौकिक शक्ति से कुछ-न-कुछ ज़रूर सम्बंध है — फिर चाहे वह किसी मैग्नेटिज्म से हो या दैवीशक्ति से, या सूक्ष्म-शरीर या उसी तरह की किसी और चीज़ से हो। वह उस असाधारण व्यक्ति की छोटी से छोटी बात इतनी भक्ति और इतनी दिलचस्पी के साथ सुन रहे थे कि बाहर का उन्हें ज़रा-भी होश न था; साथ ही मुझसे छिपाकर उनकी कोई-कोई बात वह नोट भी कर रहे थे। आश्चर्य है कि वह असाधारण व्यक्ति भी भीतर ही भीतर इस बात को ताड़ गया था और मन-ही-मन खुश भी हो रहा था।

गाड़ी आकर जब जंक्शन पर खड़ी हुई तो हम दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा में वेटिंग-रूम में जाकर ठहर गये। रात के करीब दस साढ़े-दस बजे होंगे। मालूम हुआ कि रास्ते में कहीं कुछ गड़बड़ी हो जाने से गाड़ी लेट हो गई है। मैं तख्तर पर बिस्तर बिछाकर ज़रा सो लेने की तैयारी कर रहा था कि इतने में उस असाधारण व्यक्ति ने एक बड़ा दिलचस्प किस्सा छेड़ दिया, ऐसा कि उस रात को फिर किसी को नींद ही नहीं आई।

~

वह कहने लगे —

राज्य-संचालन के सम्बंध में ज़रा-कुछ मतभेद हो जाने से जूनागढ़ का काम छोड़कर जब मैं हैदराबाद की निजाम-सरकार में दाखिल हुआ तब मुझे जवान और मज़बूत देखकर वहां की सरकार ने मुझे भड़ौंच में रुई की चुंगी का दरोगा बना दिया।

भड़ौंच जगह बड़ी रमणीक है। निर्जन पहाड़ियों के नीचे से बड़े-बड़े जंगलों में होकर वहां की सुस्ता नदी (संस्कृत 'स्वच्छतोया' का अपभ्रंश) उपल-मुखरित पथ से निपुण नर्तकी की तरह पद-पद पर टेढ़ी-तिरछी होती हुई तेज़ी से नाचती हुई चली गई है। ठीक उस नदी के किनारे संगमरमर की बनी डेढ़ सौ सीढ़ियों से सुशोभित खूब ऊंचे घाट के ऊपर एक सफेद संगमरमर का सुविशाल प्रासाद पहाड़ के पैरों के पास अकेला खड़ा था। उसके आस-पास कहीं भी कोई बस्ती नहीं थी। भडौंच की रुई की हाट और बस्ती वहां से बहुत दूर थी।

लगभग ढाई सौ वर्ष पहले द्वितीय शाह महमूद ने अपने भोग-विलास के लिए एकान्त स्थान में उसका निर्माण कराया था। किसी ज़माने में वहां स्नानागार के फव्वारों के मुंह से गुलाब-जल की धाराएं निकला करती थीं और उस शीकर-शीतल निर्जन स्नानागार में संगमरमर के स्निग्ध शिलासन पर बैठी तरुणी ईरानी रमणियां अपने कोमल नग्न पद-पल्लवों को निर्मल जलाशय के स्वच्छ जल में फैला-फैलाकर स्नान के पहले अपने लम्बे काले घुंघराले बालों को बिखेर कर, गोद में सितार लिये, अंगूरी लताओं की तरह झूमती हुई गज़ल गाया करती थीं।

अब वह फव्वारे नहीं चलते, वह गीत भी नहीं होते और न अब पहले की तरह उस शुभ संगमरमर पर उन तरुणियों के गोरे नंगे पांवों के कोमल तलवे ही पड़ते हैं। अब तो वह महल हम जैसे एकान्तवास से पीड़ित महसूल-कलेक्टरों के लिए अति-विशाल और अति-शून्य वासस्थान मात्र रह गया है। किन्तु दफ्तर के बूढ़े क्लर्क करीम खां ने मुझे उस महल में रहने से बार-बार मना किया था। कहा था, 'तबीयत हो तो दिन में भले ही रहिये मगर रात वहां हरगिज़ न बिताइयेगा।' तब मैंने उसकी बात हंसी में उड़ा दी थी। नौकरों ने तो साफ़ तौर से कह दिया था कि शाम तक तो वह वहां काम करेंगे पर रात को हरगिज़ न रहेंगे। मैंने कहा ठीक है। असल में वह मकान इतना बदनाम था कि रात को चोर तक उसमें घुसने की हिम्मत न करते थे।

पहले-पहल जब मैंने उस सुनसान पाषाण-प्रासाद में कदम रखा तो उसका सन्नाटा अजगर की तरह मेरी छाती पर जमकर बैठ गया। मुझसे जहां तक बनता मैं बाहर-ही-बाहर रहता और जब काम-काज से खूब थककर रात को वहां लौटता तब जाते ही सो जाता।

कनि्तु एक सप्ताह भी न बीत पाया कि उस महल के एक अजीब नशे ने धीरे-धीरे मुझ पर कब्ज़ा-सा करना शुरू कर दिया। मेरी उस हालत का वर्णन करना भी मुश्किल है और उस बात पर किसी को विश्वास दिलाना तो और भी कठिन है। सारा-का-सारा महल मानो किसी बड़े-भारी अजगर की तरह मुझे अपने जठरस्थ मोह-रस से धीरे-धीरे पचाने लगा। शायद उस मकान में

घुसने के साथ ही मुझ पर उसकी प्रक्रिया शुरू हो गई थी। पर मैंने जिस दिन सचेतन दशा में पहले-पहल उसका अनुभव किया उस दिन की सब बातें मुझे साफ़-साफ़ याद हैं।

गरमियों के दिन थे। रुई का बाज़ार ढीला था और मेरे हाथ में कोई खास काम भी नहीं था। सूर्यास्त के कुछ पहले मैं उस नदी के किनारे के घाट की नीचे की सीढ़ियों पर आराम-कुर्सी पर बैठा आराम कर रहा था। नदी उन दिनों सूख-सी गई थी। उस पार का दूर तक फैला हुआ बालू-तट डूबते हुए सूर्य की आभा से रंगीन हो उठा था। इस पार घाट की सीढ़ियों के नीचे स्वच्छ और उथले पानी में पत्थर की गोल-गोल बटियां चमक रही थीं। उस दिन कहीं भी ज़रा हवा का नाम तक न था। पास के पहाड़ी जंगल से तुलसी, पुदीना और सौंफ की उठती हुई सुगन्धि ने स्थिर आकाश को कुछ भारी और चंचल-सा कर रखा था।

सूरज जब पहाड़ की चोटी के पीछे छिप गया तो अकस्मात् दिन की नाट्य-शाला में मानो एक लम्बी यवनिका-सी पड़ गई। बीच में पहाड़ पड़ जाने से उस जगह सूर्यास्त के समय प्रकाश और अन्धकार का मेल देर तक नहीं ठहरता। घोड़े पर सवार होकर कहीं घूम आने के लिए मैं उठना ही चाहता था कि इतनें में सीढ़ियों पर एक साथ बहुत-सी पग-ध्वनियां सुनाई दीं। मैंने पीछे की ओर मुड़कर देखा तो कोई भी नहीं!

कानों को भ्रम हो गया होगा, ऐसा समझकर मैं मुड़कर जो बैठा तो फिर एक साथ बहुत-सी पग-ध्वनियां सुनाई दीं। मानो बहुत-सी सखियां मिलकर दौड़ती-फुदकती हुई उतर रही हों! कुछ आशंका लिये हुए एक तरह का अपूर्व पुलक मेरे सारे अंगों में दौड़ गया। यद्यपि मेरे सामने कोई भी मूर्ति न थी फिर भी मुझे प्रत्यक्षवत् स्पष्ट मालूम होने लगा कि ग्रीष्म ऋतु की उस संध्या में प्रमोद-चंचल तरुणियों का एक झुण्ड नदी के पानी में नहाने जा रहा है। यद्यपि उस संध्या के समय निस्तब्ध पर्वत के नीचे नदी-तट पर निर्जन प्रासाद में कहीं भी कोई शब्द नहीं हो रहा था फिर भी मानो मैंने स्पष्ट सुना कि झरने की सहस्र-धारा की तरह कुतूहल-पूर्ण कल-हास्य करती और एक दूसरे का तेज़ी से पीछा करती हुई स्नानार्थिनी तरुणियां ठीक मेरे बगल से निकल गईं। किसी ने मेरी तरफ देखा तक नहीं। मानो वह मेरे लिए अदृश्य हों और मैं उनके लिए। नदी पहले की तरह शान्त थी पर मैं अपनी आंखों के सामने स्पष्ट देखने लगा कि सुप्ताल नदी की कम-गहरी जलधारा एक साथ बहुत-सी वलय-झंकृत बाहुओं से विक्षुब्ध हो उठी, हंस-हंसकर सब सखियां एक दूसरे पर पानी उछालने लगीं और तैरने वालियों के चंचल पदाघातों से पानी की बूंदें मोतियों की तरह शून्य में बिखरने लगीं।

मेरे हृदय में एक प्रकार का कम्पन शुरू हो गया — वह उत्तेजना या भय के कारण था या आनन्द या कुतूहल के कारण — मैं कुछ कह नहीं सकता। भीतर से मेरी बड़ी इच्छा होने लगी कि सब अच्छी तरह देखूं किन्तु सामने देखने को कुछ था ही नहीं। फिर ऐसा लगा कि शायद अच्छी तरह कान लगाकर सुनने से उनकी बातें भी साफ़-साफ़ सुनाई देंगी पर एकाग्र चित्त से कान लगाकर सुनने पर भी सिर्फ जंगली झींगुरों की झनकार ही सुनाई दी। मालूम होने लगा कि ढाई सौ वर्ष

पहले की काली यवनिका (पर्दा) ठीक मेरे सामने ही लटक रही है।

मैंने डरते-डरते उसका ज़रा-सा एक कोना उठाकर भीतर देखा। शायद वहां महफिल लगी हुई हो। पर उस गाढ़े अन्धकार में कुछ भी दिखाई नहीं दिया।

इतने में अचानक उमस को तोड़ती हुई खूब तेज़ी से सनसनाकर हवा चलने लगी। और देखते-देखते सुस्ता का ठहरा हुआ पानी अप्सरा के सिर के घुंघराले बालों की तरह संकुचित हो उठा और संध्या-छाया से आच्छन्न समस्त वनभूमि एक क्षण में मर्मरध्वनि के साथ सहसा मानो दु:स्वप्न से जाग उठी। चाहे सच मानिये या सपना, मेरे सामने ढाई सौ वर्ष पहले के अतीत-क्षेत्र से प्रतिफलित होकर जो एक अदृश्य मरीचिका उतर आई थी वह एक क्षण में न-जाने कहां विलीन हो गई! जो मायाविनी तरुणियां मेरे बिलकुल नज़दीक से, देह-हीन द्रुत पदक्षेप से, शब्दहीन उच्च कलहास्य के साथ दौड़ती फुदकती हुई सुस्ता-नदी के पानी में कूद पड़ी थीं वह फिर पानी में से निकलकर अपने-अपने भीगे आंचलों को निचोड़ती हुई मेरे बगल से होकर वापस नहीं गईं। हवा जिस तरह गन्ध को उड़ा ले जाती है ठीक उसी तरह वसन्त के एक नि:श्वास में उड़कर वह भी न जाने कहां चली गईं!

तब मुझे बड़ी आशंका-सी लगने लगी कि कहीं मुझे अकेला पाकर मेरे सिर पर कविता-देवी तो नहीं सवार हो गईं। मैं बेचारा रुई की चुंगी वसूल करके किसी तरह अपना गुज़र करता हूं, सत्यानाशिनी कहीं मेरा काम तमाम करने तो नहीं आईं!

सोचा कि अच्छी तरह खाना खाना चाहिए, खाली पेट में ही इस तरह की बेहूदा बीमारियां आ धमकती हैं। फिर उसी वक्त मैंने अपने बावर्ची को बुलाकर उसे खूब घी और मसाले-सुगन्धियां मिलाकर 'मुगलई खाना' बनाने का हुक्म दे दिया।

~

दूसरे दिन सवेरे रात की सारी की सारी बातें मज़ाक-सी मालूम होने लगीं। खा-पीकर मैं बड़ी खुश-तबीयत से साहबों की तरह हैट-कोट पहनकर अपने हाथ से टम-टम हांकता हुआ काम पर चला गया। उस दिन मुझे तिमाही रिपोर्ट लिखनी थी इसलिए देर से घर लौटने की बात थी। मगर शाम होते-न-होते कोई मुझे उस मकान की ओर खींचने लगा। कौन खींचने लगा पता नहीं पर ऐसा लगने लगा कि 'अब देर करना ठीक नहीं।' भीतर से मन कहने लगा कि वहां सब बैठी होंगी! रिपोर्ट अधूरी छोड़कर हैट उठाया और उसी समय गोधूलि-लग्न की धूसर तरु-छाया से ढके हुए सुनसान मार्ग को अपने टम-टम रथ के पहियों के शब्द से चकित करता हुआ अपने उस अन्धकारमय शैलान्तवर्ती निस्तब्ध विशाल प्रासाद की ओर चल दिया।

सीढ़ियों के ऊपर का सामनेवाला दीवानखाना काफी बड़ा था। उसमें काफी ऊंचे और बड़े-बड़े स्तम्भों की तीन कतारें थीं और उन पर थी मेहराबदार बड़ी-भारी छत जिसके नीचे की चित्रकारी

देखने लायक थी। वह विशाल कमरा अपनी गम्भीर शून्यता से दिन-रात भांय-भांय किया करता था। उस दिन संध्या हो जाने पर भी कमरे में बत्ती नहीं जलाई गई थी। दरवाज़ा ठेलकर ज्यों ही मैं उस कमरे में घुसा त्यों ही ऐसा लगा कि वहां यकायक बड़ी भारी भगदड़-सी मच गई। ऐसा मालूम हुआ मानो सभा भंग करके चारों तरफ के दरवाज़ों और खिड़कियों में से, जहां जिसको राह मिली, तेज़ी से सब भाग खड़ी हुईं। दूसरे ही क्षण फिर वही सूना का सूना! मैं कहीं किसी को न देखकर दंग रह गया। मेरा सारा शरीर एक प्रकार के आवेश से रोमांचित हो उठा। बहुत दिनों के पुराने बचे-खुचे तेल-फुलेल और कीमती अतरों की मन्द-मन्द सुगन्ध मेरी नाक में घुसने लगी। मैं उस दीप-हीन जन-हीन विशाल प्रासाद के पुराने सफेद संगमरमर के बने खम्भों के बीच खड़ा-खड़ा फव्वारे का पानी झर-झर शब्दों के साथ सफेद संगमरमर पर पड़ता हुआ सुन रहा था पर सितारों से क्या सुर निकल रहा था, कुछ समझ न सका। कहीं सोने के गहनों की झनकार तो कहीं जवाहरात के जेवरों की चमक, कभी नूपुरों की छमछम तो कभी शाही घड़ियाल का प्रहर-सूचक नाद, कभी बहुत दूरी पर नौबत (बाजा जो राज-महल में बजता है) की मीठी तान तो कभी हवा से झूमते हुए स्फटिक के बड़े-बड़े झाड़ों के लटकनों की टुनटुन-ध्वनि, कभी बाहर के बरामदे से बुलबुल का गीत तो कभी बगीचे से पालतू सारसों के बोल — इन सबने मिलकर मेरे चारों तरफ मानो किसी प्रेतलोक की रागिनी छेड़ दी।

मेरे ऊपर एक तरह की मोहमाया-सी छा गई। ऐसा मालूम होने लगा कि मानो संसार में यह अदृश्य अगम्य अवास्तव घटना ही एक मात्र सत्य है बाकी सब-कुछ मिथ्या मरीचिका। मैं अपने को बिलकुल भूल गया; मुझे इस बात का कोई होश ही नहीं रहा कि मैं अमुक का पुत्र हूं, अमुकनाथ मेरा नाम है, साढ़े-चार सौ रुपया तनख्वाह पाने वाला एक चुंगी का दरोगा हूं और कोट-पैंट पहनकर टमटम पर सवार होकर रोज़ दफ्तर जाया करता हूं। सच तो यह है कि ये सब छोटी-छोटी बातें तब मेरे लिए महज़ मज़ाक, बिलकुल झूठी और बे-सिर-पैर की मालूम होने लगीं। सब रंग-ढंग देखकर अन्त में मैं उस विशाल निस्तब्ध अन्धकारपूर्ण सभा-भवन में खड़ा-खड़ा ज़ोरों से ठहाका मारकर हंस पड़ा।

इतने में मेरा मुसलमान चपरासी जलता हुआ केरोसिन का लैम्प हाथ में लिये कमरे में घुसा। उसने मुझे पागल समझा या और कुछ मैं नहीं कह सकता। पर उसी क्षण मुझे याद आया कि मैं स्वर्गीय अमुकचन्द्र का पुत्र अमुकनाथ हूं, और साथ ही यह भी सोचने लगा कि संसार के भीतर या बाहर कहीं भी अमूर्त फव्वारा हमेशा झरता है या नहीं और अदृश्य उंगलियों के आघात से किसी मायामयी वीणा से अनन्त ध्वनित होती है या नहीं, यह तो कवि या महाकवि ही बता सकते हैं, किन्तु इतना तो बिलकुल सही और सौ-फीसदी सच है कि मैं भड़ौंच की हाट में रुई की चुंगी वसूल करनेवाला रियासत का वेतन-भोगी कर्मचारी हूं। और तब मैं फिर अपने पूर्व क्षणों की अद्भुत मोहमाया की याद कर-करके टेबिल के पास लैम्प के सामने बैठकर अखबार देखता हुआ मज़े ले-लेकर हंसने लगा।

और फिर, अखबार पढ़कर और मुगलई खाना खाकर मैं अपने कोनेवाले छोटे से कमरे में जाकर बत्ती बुझाकर बिस्तर पर पड़ रहा। मेरे सामने की खुली हुई खिड़की में से अन्धकार-पूर्ण जंगल

से घिरे हुए पहाड़ की चोटी के ऊपर एक अत्युज्ज्वल नक्षत्र करोड़ों योजन दूर आकाश से अति-तुच्छ कैम्प-खाट पर पड़े हुए मुझ चुंगी-दरोगा की ओर एकटक देख रहा था और मैं उसकी उस उज्ज्वल तीव्र दृष्टि से आश्चर्य और कौतुक अनुभव करता हुआ कब सो गया, मुझे पता नहीं। कितनी देर तक सोता रहा, सो भी नहीं मालूम।

यकायक मैं चौंककर जाग पड़ा। कमरे में कोई आवाज़ हुई हो या कोई अचानक घुस आया हो सो बात नहीं। देखा कि अन्धकारमय पर्वत-शिखर के ऊपर जो नक्षत्र चमक रहा था वह डूब चुका था और कृष्णपक्ष की फीकी चांदनी अनाधिकार-प्रवेश के संकोच से संकुचित होकर मेरी खिड़की में से भीतर घुस रही थी।

अपने कमरे के भीतर मुझे कोई दिखाई नहीं दिया, फिर भी, मानो मुझे स्पष्ट मालूम होने लगा कि कोई आकर मुझे अपने कोमल कर-स्पर्श से धीरे-धीरे हिला रही है! मैं जागकर बैठ गया। देखा कि वह मुंह से कुछ न कहकर सिर्फ अंगूठियों से चमकती-हुई पांचों उंगलियों से इशारा करके मुझे खूब सावधानी से अपने पीछे-पीछे चले आने का आदेश दे रही है।

मैं बहुत ही आहिस्ते से उठा। हालांकि उस सैकड़ों-कमरे वाले और गुरु गम्भीर शून्यतामय, निद्रित ध्वनि और सजग प्रतिध्वनि से गूंजते हुए विशाल प्रासाद में मेरे सिवा और कोई भी नहीं था, फिर भी, कदम-कदम पर मुझे ऐसी आशंका होने लगी कि कहीं कोई जाग न जाये। महल के अधिकांश कमरे बन्द रहते थे और उनमें मैं कभी गया न था।

रात के उस अंधेरे में हौले-हौले पैर रखता हुआ अपनी सांस पर पूरा काबू रखकर मैं उस अदृश्य बुला-ले जाने वाली के पीछे-पीछे कहां जा रहा था आज भी उसे मैं ठीक से समझा नहीं सकता। कितने अन्धकार-पूर्ण संकीर्ण मार्ग, कितने लम्बे-चौड़े बरामदे, कितने गम्भीर-निस्तब्ध दीवानखाने और कितनी छोटी-छोटी बन्द कोठरियां पार करता हुआ जाने लगा, उसका कोई ठिकाना नहीं।

अपनी उस अदृश्य दूती को यद्यपि मैं आंखों से नहीं देख रहा था, फिर भी उसकी मूर्ति मेरे मन के अगोचर नहीं थी। ईरानी तरुणी थी वह। उसकी ढीली आस्तीनों में दूधिया संगमरमर जैसे उसके कठिन-कोमल गोल-मटोल हाथ दिखाई दे रहे थे, माथे पर लाल मखमल की टोपी थी और उसके नीचे झीने कपड़े की एक नकाब थी जो उसके कोमल गोल गुलाबी मुखड़े पर बड़ी सुहावनी लग रही थी। कमर से एक रेशमी फेंटा बंधा था और उसमें उरसी हुई थी एक बांकी छुरी।

मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे 'अलिफ-लैला' की हज़ार रातों में से कोई एक रात आज उपन्यास-लोक से उड़कर वहां आ गई हो; और मैं ऐसा लग रहा था जैसे अन्धकारमय निशीथ में सोते हुए

बगदाद के दीप-हीन संकीर्ण मार्ग से किसी संकटपूर्ण अभिसार के लिए यात्रा कर रहा हूं।

अन्त में, मेरी वह दूती एक गहरे नीले रंग के परदे के सामने जाकर सहसा ठिठक के खड़ी हो गई और नीचे की ओर उंगली का इशारा करके कुछ दिखाने लगी। नीचे कुछ भी नहीं था, फिर भी मेरे हृदय का खून जमकर बर्फ हो गया। मुझे स्पष्ट मालूम होने लगा कि इस परदे के सामने ज़मीन पर कमखाब की पोशाक पहने, गोद में नंगी तलवार रखे, दोनों पैर फैलाये, कोई भीषण हबशी खोजा बैठा ऊंघ रहा है! मेरी दूती अत्यन्त लघु-गति से बिना आहट किये उसकी टांगों को लांघकर परदे के पास पहुंची, और धीरे से उसने परदे का एक कोना उठाया।

भीतर का थोड़ा-सा हिस्सा मुझे दिखाई दे गया। मैंने दिखा कि फर्श पर खास फारस का बना हुआ बढ़िया गलीचा बिछा हुआ है। भीतर तख्त पर कौन बैठा है, साफ़ नज़र नहीं आया सिर्फ केशरिया-रंग का ढीला पाजामा और उसके नीचे ज़रीदार जूतियों समेत गोरे-गोरे दो सुन्दर गुलाबी पांव लाल मखमल के आसन पर लापरवाही से पड़े दिखाई दिये। फर्श पर बगल में एक नीलाभ स्फटिक-पात्र में कुछ सेब, नाशपाती, नारंगी और अंगूरों के गुच्छे रखे थे और उसके पास ही एक छोटा-सा प्याला और सुनहरे रंग की अंगूरी शराब से भरी हुई कांच की सुराही किसी आने वाले मेहमान के लिए इन्तज़ार कर रही थी। भीतर से एक प्रकार का अपूर्व सुगन्धि-युक्त धूप का मादक धुआं आ-आकर मुझे विह्वल करने लगा।

मैं कम्पित हृदय से उस खोजे की टांगों को लांघकर आगे बढ़ना ही चाहता था कि वह कमबख्त जाग उठा; और उसकी गोद में पड़ी-हुई नंगी तलवार झन्न-से संगमरमर फर्श पर गिर पड़ी।

~

अचानक एक विकट चीत्कार सुनकर मैं चौंक पड़ा। आंखें खुलीं तो देखा कि मैं अपनी उस कैम्प-खाट पर ही पसीने से तर-बतर हुआ बैठा हूं। भोर के उजाले में कृष्ण-पक्ष का चांद रात-भर जगे-हुए बीमार की तरह पीला पड़ गया है; बाहर वह पागल मेहरअली अपने रोज़ के दस्तूर के माफिक पौ फटते ही सुनसान सड़क पर, 'दूर रहो सब, दूर रहो! सब झूठ है, सब झूठ है!' — चिल्लाता हुआ महल के चारों तरफ दौड़ रहा है। इस तरह अरबी उपन्यास 'अलिफ-लैला' की एक रात तो देखते-देखते यों ही खत्म हो गई। किन्तु अब भी हज़ार रातें और बाकी थीं।

~

मेरे दिन के साथ रात का बड़ा-भारी विरोध उठ खड़ा हुआ। दिन में मैं हारा-थका शरीर लेकर अपने काम पर जाता और दिन-भर वहां शून्य-स्वप्नमयी मायाविनी रात को कोसता रहता; फिर संध्या होते ही अपने दिन के कार्य-बद्ध अस्तित्व को अत्यन्त तुच्छ, मिथ्या और हास्यकर समझने लगता।

शाम के बाद, मैं एक अजीब नशे के जाल में अपने-आप फंसकर बुरी तरह उलझ जाता और तब मैं अपने को सैंकड़ों वर्ष पहले के किसी एक अलिखित इतिहास का और कोई व्यक्ति समझने

लगता। फिर मुझे विलायती तंग कोट और चुस्त पैंट भद्दा लगने लगता। तब मैं लाल मखमल की टोपी, ढीला पाजामा, फूलदार कबा और रेशम का लम्बा चोगा पहनकर और रंगीन रेशमी रूमाल में अतर डालकर बड़े जतन के साथ अपने को सजाकर तैयार करता और सिगरेट फेंककर गुलाब-जल से भरा लम्बी-नलीदार बड़ा-सा पेचवान लेकर गद्दीदार ऊंचे मसनद पर ऐसे बैठ जाता जैसे कोई प्रेमी रात को किसी अपूर्व प्रिय-सम्मिलन के लिए परम आग्रह के साथ तैयार बैठा हो।

उसके बाद अन्धकार जितना ही घना होता जाता उतनी ही न-जाने कैसी-कैसी अद्भुत घटनाएं घटती रहतीं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। ठीक ऐसा लगने लगता जैसे किसी रहस्यपूर्ण विचित्र कहानी के कुछ फटे हुए पन्ने बसन्त की आकस्मिक हवा से उस विशाल प्रासाद के चित्र-विचित्र कमरों में उड़े-उड़े फिरते हों; कुछ पन्नों तक तो सिलसिला मिलता रहता, फिर बाद का हिस्सा ढूंढे न मिलता। और मैं उन उड़ते हुए पन्नों का पीछा करता हुआ सारी रात कमरे-कमरे और कोठरी-कोठरी में मारा-मारा फिरता रहता।

उन खण्ड-स्वप्नों के भंवर में कभी हिना की खुशबू, कभी सितार की झनकार और कभी खुशबूदार पानी की ठण्डी-ठण्डी बौछारों के साथ आती हुई हवा की हिलोरों में मैं अपनी उस मानस-नायिका को क्षण-क्षण में विद्युत-शिखा की तरह चमकती हुई देख लिया करता। मेरी वह मानस-अभिसारिका केशरिया रंग का पाजामा पहने, अपने दूधिया-गुलाबी कोमल पैरों में ज़रीदार नुकीली जूतियां डाले और अपने पीनोन्नत पयोधरों पर ज़री की बेल-बूटेदार अंगिया कसे, माथे पर सामने की ओर, सुनहली झालरदार सिन्दूरी रंग की शानदार टोपी लगाये घने अंधकार में बिजली की तरह क्षण में चमककर विलीन हो जाती।

उसने मुझे पागल कर दिया था। मैं उसकी प्रतीक्षा में अपनी उस मानस प्रेयसी के सपनों का जटिल मार्ग तय करता हुआ मायापुरी में जाकर वहां की गली-गली में कोठरी-कोठरी में इधर से उधर भटकता फिरता।

करिसी-किसी दिन संध्या के समय जब मैं बड़े आईने के दोनों ओर दो बत्तियां जलाकर बड़ी तल्लीनता के साथ अपने को शहज़ादे की पोशाक से सजाने में मशगूल रहता तो सहसा देखता कि आईने में मेरे प्रतिबिम्ब के बहुत ही पास क्षण-भर के लिए उस ईरानी तरुणी की छाया आ खड़ी हुई है। और उसी क्षण वह अपनी सुराहीदार गरदन हिलाकर अपनी बड़ी-बड़ी भौंरे-सी काली आंखों की पुतलियों से सुगंभीर आवेग और आग्रह के साथ तीव्र वेदनापूर्ण कटाक्ष करती हुई, लघु-ललित नृत्य के साथ अपनी यौवन-पुष्पित देह-लता को तेज़ी से ऊपर की ओर घुमाती हुई क्षण में वेदना, वासना और विभ्रम के हास्य कटाक्ष करती और आभूषण-ज्योति की चिनगारियां बरसाती हुई दर्पण की दर्पण ही में विलीन हो जाती। फिर गिरि-कानन की सम्पूर्ण सुगन्ध को लूटता हुआ पवन का एक निरंकुश उच्छवास आता और मेरी दोनों बत्तियों को बुझाकर चला जाता।

मैं भी अपना साज-श्रृंगार छोड़-छाड़कर एक कोने में पड़ी हुई अपनी खाट पर जाकर पड़ जाता। बिस्तर पर पड़ते ही मेरा सम्पूर्ण तन-मन पुलकित हो उठता और मैं आंखें मींचकर सोने की कोशिश करता। उस समय मेरे चारों तरफ वह पवनोच्छ्वास और अरावली गिरि-कुंजों का वह मिश्रित सौरभ मानो किसी अतृप्त प्रेम के बहुत-बहुत प्यार, अनेकानेक चुम्बन और कोमल कर-स्पर्श से उस निर्जन अन्धकार को भर देता; और वहीं-का-वहीं चक्कर काटता रहता। अपने कानों के आसपास मुझे आकर्षक कल-गुंजन सुनाई देता, मेरे ललाट पर सुरभित निःश्वास आ-आकर लगता, और बार-बार एक मृदु-सौरभ रमणीय सुकोमल दुपट्टा आ-आकर मेरे कपोलों पर पड़ता। और उसकी सुरसुराहट से मैं विह्वल हो-हो उठता। धीरे-धीरे वह मोहिनी सर्पिणी अपने मादक-वेष्टन से मेरे समस्त अंगों को कसके बांध डालती; और मैं गाढ़ी सांस छोड़ता हुआ अचेतन शरीर लिये गहरी नींद में गरक हो जाता।

~

एक दिन मैंने तय किया कि शाम होने के पहले ही घोड़े पर सवार होकर हवाखोरी के लिए कहीं निकल जाऊंगा पर पीछे से न-मालूम कौन मुझे मना करने लगा। किन्तु मैंने उसकी एक न सुनी। एक खूंटी पर मेरा हैट और कोट टंगा था, मैंने उन्हें उठाकर ज्यों ही पहनना शुरू किया त्यों ही सुस्ता नदी की रेती और अरावली-पहाड़ियों की सूखी पत्तियों का झण्डा फहराता हुआ एक ज़ोर का बवण्डर अचानक आ धमका और वह मेरे उस कोट-पैंट-हैट को छीनकर न-जाने कहां उड़ा ले गया। साथ ही एक अत्यन्त मधुर कलहास्य उस तूफान के साथ घूमता हुआ, ऊंचे-से-ऊंचे सप्तक पर चढ़ता हुआ, सूर्यास्त लोक के पास जाकर विलीन हो गया।

उस दिन फिर मैं घोड़े पर बैठकर घूमने न जा सका। उसके दूसरे दिन से तो फिर मैंने उस हास्यास्पद हैट-कोट-पैंट को पहनना ही छोड़ दिया।

उस दिन फिर आधी रात को अचानक मैं सोते से उठकर बैठ गया। सुना, मानो कोई छाती कूट-कूटकर गला फाड़-फाड़ के रो रही है! मानो ठीक मेरी खाट के नीचे से, ज़मीन के भीतर उस विशाल प्रासाद की पत्थर की नींव के नीचे से, किसी आर्द्र और अन्धकारपूर्ण अंधेरी कब्र के भीतर से रो-रोकर वह कह रही हो, 'तुम मुझे इस कठोर माया, इस गहरी नींद और इन व्यर्थ के स्वप्नों के सारे के सारे दरवाज़े तोड़कर, अपने घोड़े पर चढ़ाकर, अपनी छाती से चिपटाकर, जंगल के भीतर से, पहाड़ियों के ऊपर से, नदी पार होकर, अपने सूर्यालोकित संसार में ले चलो। मेरा उद्धार करो!'

मैं कौन हूं! कैसे मैं तुम्हारा उद्धार करूं! मैं इस घूमते हुए परिवर्तनशील स्वप्न-प्रवाह में से किस डूहती-हुई कामना-सुन्दरी को खींचकर किनारे लगाऊं! तुम कब थीं, कहां थीं, हे दिव्यरूपणी! तुम किस शीतल झरने के तट पर, किस खर्जूर-कुंज की छाया में, किस गृह-हीना मरु-वासिनी की कोख में पैदा हुई थीं? तुम्हें कौन बद्दू डाकू वन-लता से फूल की कली की तरह मां की गोद से तोड़कर, तूफानी चाल चलने वाले अरबी घोड़े पर बिठाकर, जलते-हुए रेगिस्तान को पार करके किस शाही शहर के गुलामों के बाज़ार में बेचने के लिए ले गया था? वहां किस बादशाह का कौन-सा खैरख्वाह खिदमतगार तुम्हारी इस फूल की तरह तुरन्त-खिली और लज्जा से कांपती हुई

यौवन-शोभा को देखकर, सोने के सिक्कों के बदले तुम्हें खरीदकर, समुद्र पार होकर, सोने की पालकी में बिठाकर तुम्हें अपने शाह के महल में भेंट चढ़ा गया था? वहां का कैसा इतिहास था वह! वहां की सारंगी की धुन, नूपुरों की झनकार और छलकती हुई सुनहली शीराजी शराब के बीच-बीच में चमचमाती हुई कटारों की झलक, विष की ज्वाला, कटाक्षों की चोट, कैसा था सब! ओफ्, कैसा असीम ऐश्वर्य, कैसा अनन्त कारागार था वह! भीतर दोनों ओर दो दासियां अपनी चूड़ियों में हीरे के नगों को चमकाती हुई चंवर डुला रही हैं और शहंशाह बादशाह उनके गोरे पांवों पर माणिक-मोतियों से जड़ी हुई जूतियों के पास लोट रहें हैं! और बाहर, बाहर के दरवाज़े पर यमदूतों जैसे हबशी, देवदूतों की-सी पोशाक पहने, हाथों में नंगी तलवार लिये खड़े हैं! और तुम? तुम उस रक्त-कलुषित ईर्षा-फेनिल षड्यन्त्र-संकुल भीषणोज्ज्वल ऐश्वर्य-प्रवाह में बहती हुई, मरुभूमि की पुष्पमंजरी तुम यहां कहां किस मृत्युलोक में आ फंसी? यहां कहां किस निष्ठुर निर्दय कठोर महिमा-तट पर बलि चढ़ा दी गईं तुम? हे दिव्यरूपणी, कब थीं तुम, कहां थीं तुम, कहां हो तुम? मैं कैसे तुम्हारा उद्धार करूं?

~

इतने में अचानक उस पागल मेहरअली की चीख मेरे कानों में पड़ी, 'दूर रहो सब, दूर रहो! सब झूठ है, सब झूठ है!'

आंखें खोलकर देखा, सवेरा हो गया है। चपरासी ने डाक लाकर मेरे हाथ में दी; बावरची आकर पूछने लगा, 'आज क्या खाना बनेगा?' मैंने कहा, 'बस, अब इस मकान में नहीं रहना है।'

उसी दिन मेरा सारा असवाब उठकर दफ्तर पहुंच गया। दफ्तर का पुराना बुड्ढा क्लार्क करीम खां मुझे देखकर कुछ मुस्कराया। मैं उसकी उस मुस्कराहट से ज़रा कुछ नाराज़-सा हुआ; पर बगैर कुछ जबाव दिये अपना काम करने लगा।

कनि्तु ज्यों-ज्यों शाम करीब आने लगी त्यों-त्यों मैं अनमना-सा होने लगा। ऐसा लगने लगा कि जैसे अभी तुरन्त मुझे कहीं जाना है। रुई के हिसाब जांचने का काम मुझे बिलकुल अनावश्यक और वाहियात-सा मालूम होने लगा, निजाम की निजामत तक मुझे ऐसी कोई खास चीज़ नहीं मालूम हुई। चारों तरफ जो कुछ मौजूद है, जो कुछ चल-फिर रहा है, जो कुछ काम-धन्धा हो रहा है, खाना-पीना चल रहा है, वह सब-कुछ मुझे अत्यन्त दीन, अर्थहीन और अकिंचित्कर मालूम होने लगा।

मैं कलम पटक कर, भारी-भरकम खाते-बही बन्द करके, फौरन उठ खड़ा हुआ और अपनी टमटम पर बैठकर घूमने चल दिया। देखा कि टमटम ऐन गोधूली-लग्न पर अपने-आप उस पाषाण-प्रासाद के द्वार पर जाकर खड़ी हो गई। मैं चट से उतरकर जल्दी-जल्दी सीढ़िया तय करता हुआ बड़ी तेज़ी से उसके भीतर जा पहुंचा।

आज सब कुछ निस्तब्ध था। ऐसा लगा जैसे सबकी सब अंधेरी कोठरियां मानो मुझसे नाराज़ होकर मुंह फुलाये पड़ी हों। अनुताप और पश्चात्ताप से मेरा कलेजा ऊपर को आने लगा। किन्तु किससे कहूं, किससे हाथ जोड़कर माफी मागूं, कोई भी तो है नहीं! मैं अपना शून्य और सन्तप्त हृदय लिये भटकने लगा। मेरा जी चाहने लगा कि एक सितार हाथ में लेकर किसी को सुनाने के लिए कुछ गाऊं; और कहूं कि 'हे दीपशिखा, जो पतंगा तुझे छोड़कर भाग जाने की कोशिश कर रहा था, आज फिर वह अपनी खुशी से जल-मरने के लिए आया है! अबकी बार तू उसे माफ कर दे, उसके दोनों पंख जलाकर भस्म कर दे।'

इतने में सहसा ऊपर से मेरे ललाट पर आंसू की दो बूंदें गिरीं। उस दिन अरावली-पहाड़ की चोटी पर घनघोर बादल मंड़रा रहे थे। अन्धकारमय जंगल और सुप्ता का स्याही-सा स्याह पानी किसी भीषण की प्रतीक्षा में स्थिर बैठा था। इतने में, सहसा जल-स्थल-आकाश सब एकसाथ चौंक पड़े और अकस्मात् एक तूफान अपने बिजली के दांत कड़कड़ाता हुआ मदोन्मत्त पागल हाथी की तरह मार्ग हीन सुदूर वन में से चीखता-चिंघारता हुआ दौड़ा चला आया। महल के बड़े-बड़े कमरे अपने सारे के सारे दरवाज़ों से सिर धुन-धुनकर, तीव्र वेदना से पछाड़ खा-खाकर, फूट-फूटकर रोने लगे।

आज नौकर-चाकर सब दफ्तर वाले मकान में ही थे। महल में बत्ती जलाने वाला कोई न था। और उस बादलों से घिरी हुई अमावस्या की रात में, महल के भीतर उस कसौटी-से काले अंधेरे में, मैं बिलकुल स्पष्ट अनुभव करने लगा कि एक तरुणी रमणी पलंग के नीचे गलीचे पर औंधी पड़ी हुई अपनी दोनों मुट्ठियां बांध-बांधकर अपने बिखरे हुए रूखे बालों को नोंच-नोंचकर फेंक रही है! उसके गोरे कोमल ललाट से ताज़ा गरम खून फूट-फूटकर बह रहा है। कभी वह ज़ोर से 'हाः हाः हाः' करके शुष्क तीव्र अट्टहास्य कर उठती है, कभी फूट-फूटकर रोने लगती है, कभी दोनों हाथों से चोली के दामन तोड़कर उसे फाड़-फाड़कर उघड़ी हुई छाती पीटने लगती है। और खुली हुई खिड़कियों से गरजती हुई तूफानी हवा के झोंके और मूसलधार वर्षा की बौछार आ-आकर उसके उत्तप्त शरीर को अभिषिक्त कर रही है।

उस दिन, तमाम रात न तो आंधी थमी और न उसका रोना ही बन्द हुआ। मैं रातभर निष्फल परिताप से अनुतप्त होकर अंधेरी कोठरियों में भटकता फिरा। कहीं किसी का पता न चला, सांत्वना दूं तो किसे दूं? यह प्रचण्ड आहत अभिमान किसका है? यह अशान्त मनस्ताप, यह आन्तरिक शोक उठ कहां से रहा है? मैं कुछ समझ न सका।

इतने में पागल मेहरअली न-जाने कहां से अचानक चीख उठा, 'दूर रहो सब, दूर रहो! सब झूठ है, सब झूठ है!'

देखा कि सवेरा हो गया है, और मेहरअली ऐसे ज़बरदस्त तूफान और मूसलधार मेह में भी अपने

नियमानुसार उस क्षुधित-पाषाण-प्रासाद की प्रदक्षिणा करता हुआ और अपना अभ्यस्त चीत्कार करता हुआ रोज़ की तरह दौड़ रहा है। यकायक खयाल आया कि शायद यह मेहरअली भी मेरी ही तरह किसी समय कमबख्ती का मारा इस महल में ठहरा होगा और अब पागल होकर बाहर निकल भागने पर भी इस पाषाण-राक्षस के मोह से आकृष्ट हो-होकर रोज़ सवेरे इसकी प्रदक्षिणा करने आया करता है।

मैं उसी वक्त, उसी आंधी-मेह में दौड़ा-दौड़ा उस पागल के पास पहुंचा। और उससे पूछने लगा, 'भाई मेहरअली, क्या झूठ है, मुझे बताओ न?'

मेरी बात का कोई जवाब न देकर, मुझे एक धक्का मार के गिराकर, अजगर के मुंह के ग्रास के समान खिंचता और चक्कर काटता हुआ, मोहाविष्ट पक्षी की तरह चीखता हुआ वह उस क्षुधित पाषाण-प्रासाद के चारों तरफ लगातार घूमता ही रहा। बीच-बीच में अपने को सावधान और काबू में रखने के लिए बार-बार वह सिर्फ एक ही बात चिल्ला-चिल्लाकर कहता रहा, 'दूर रहो सब, दूर रहो! सब झूठ है, सब झूठ है!'

~

मैं उसी समय, उसी हालत में, उस आंधी-मेह में पागल की तरह घबराया हुआ दफ्तर पहुंचा, और करीम खां को पास बुलाकर मैंने उससे धीरे से पूछा, 'इसके मानी क्या हैं, मुझे साफ़-साफ़ बताओ?'

बुड्ढे ने जो कुछ कहा, उसका सार सिर्फ इतना ही था कि किसी ज़माने में उस पाषाण-प्रासाद में असंख्य अतृप्त वासनाएं और मदोन्मत्त भोग-विलास की शिखाएं लहरें लिया करती थीं, उन सब चित्त-दाहों से, उन सब निष्फल कामनाओं के अभिशाप से उस पाषाण-प्रासाद का प्रत्येक पाषाण-खण्ड अब तक क्षुधार्त तृषार्त बना हुआ है और इसीलिए अपने आस-पास किसी सजीव मनुष्य को पाते ही लालायित पिशाच की तरह उसे वह खा डालना चाहता है। आज तक जो भी और जितने भी लोग उस महल में तीन रात रहे हैं, उनमें से सिर्फ एक मेहरअली ही पागल होकर बाहर निकल पाया है, वरना और कोई भी उसके ग्रास से नहीं बचा।

मैंने पूछा, 'मेरे उद्धार का कोई उपाय बता सकते हो?'

बुड्ढे ने कहा, 'सिर्फ एक ही उपाय है, और वह बहुत ही मुश्किल है। मैं तुम्हें बताये देता हूं लेकिन उसके पहले उस गुलबाग की एक जरखरीद ईरानी बांदी का किस्सा बताना बहुत ज़रूरी है। वैसी आश्चर्यजनक और दिल दहलाने वाली दुर्घटना शायद ही दुनिया में पहले कभी किसी ने सुनी हो!'

इतने में स्टेशन के कुलियों ने आकर खबर दी, 'गाड़ी आ रही है, हुज़ूर!'

इतनी जल्दी! झटपट बिस्तर बांधते-बंधवाते गाड़ी आ पहुंची। उस गाड़ी के फर्स्ट-क्लास कम्पार्टमेण्ट से तुरन्त ही सोते से उठा हुआ एक अंग्रेज़ खिड़की में से गरदन निकालकर स्टेशन का नाम पढ़ने की कोशिश कर रहा था। वह हमारे उन बाबू साहब को देखते ही 'हैलो' कहकर चिल्ला उठा और हाथ के इशारे से उसने उन्हें अपने डब्बे में बुला लिया। हम लोग एक सेकेण्ड क्लास डब्बे में बैठ गये। फिर उन बाबू साहब का आज तक कुछ पता ही न लगा और अफसोस कि ऐसे दिलचस्प किस्से का आखिरी हिस्सा हम सुन ही न पाये।

~

मैंने अपने साथी मित्र से कहा, 'देखा, हज़रत हम दोनों को कैसा बेवकूफ बनाकर चकमा दे गये! मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि शुरू से लेकर आखिर तक सारा का सारा किस्सा बेबुनियाद और मन-गढ़न्त है।'

इस पर हम दोनों में इतनी ज़बरदस्त बहस हुई और उसका दोनों के मन पर ऐसा असर पड़ा कि दोनों में ज़िन्दगी-भर के लिए बोलचाल ही बन्द हो गई।

बंग्ला-रचना : श्राबण (श्रावण) 1302

(जुलाई 1895)

जीवति और मृत

पाठकों के लिए — बंगाल में मुरदे को बांधते नहीं, यों ही खाट पर रखकर ले जाते हैं।

1

रानीहाट के ज़मींदार बाबू शारदाशंकर के घर की बेचारी विधवा छोटी बहू के मायके में कोई न था, एक-एक करके सभी मर चुके थे; और ससुराल में भी ठीक अपना कहने को कोई नहीं है। न पति है, न पुत्र। एक जेठौत है, शारदाशंकर का छोटा लड़का। वही उसकी आंखों का तारा है। उस बच्चे के पैदा होने के बाद उसकी मां को बड़ी सख्त बीमारी ने घेर लिया था और उसमें वह बहुत दिनों तक कष्ट पाती रही, इसलिए उसकी चाची विधवा कादम्बिनी ने ही उसे पाल-पोसकर बड़ा किया है।

कोई पराये लड़के को पाल-पोसकर बड़ा करे तो उस पर हृदय का खिंचाव और स्नेह-ममता मानो और भी बढ़ जाती है। कारण, उस पर उसका कोई सामाजिक अधिकार नहीं रहता। और जहां सामाजिक अधिकार बिलकुल न हो केवल स्नेह का ही अधिकार हो, वहां बेचारा अकेला स्नेह समाज के सामने अपने अधिकार को किसी दलील के बूते पर साबित नहीं कर सकता और करना भी नहीं चाहता, बल्कि वह तो अपने उस अनिश्चित हृदय के धन को दूने आवेगर और उससे भी ज्यादा व्याकुलता के साथ सिर्फ चाहने ही लगता है।

वधिवा कादम्बिनी ने, अपने सम्पूर्ण रुके हुए स्नेह को इस छोटे-से बच्चे पर सींचकर एक सावन की रात को एकाएक इस लोक से कूच कर दिया। अकस्मात् न-जाने कैसे उसके हृदय की धुकधुकी बन्द हो गई। जगत में समय और सब जगह ज्यों का ज्यों चलता रहा सिर्फ उस स्नेह पूर्ण छोटे-से कोमल हृदय के भीतर समय की घड़ी के पुरज़े हमेशा के लिए बन्द हो गये।

इस डर से कि कहीं कोई पुलिस का अड़ंगा न लग जाये, बिना ज्यादा आडम्बर बढ़ाये ज़मींदार के चार ब्राह्मण कर्मचारी जल्दी से अर्थी को श्मशान ले गये।

रानीहाट का श्मशान गांव से बहुत दूर था। तालाब के किनारे एक झोंपड़ी है और उसके पास ही एक बड़ा-भारी बड़ का पेड़। चारों तरफ मैदान ही मैदान नज़र आता है और कुछ नहीं। पहले वहां नदी बहती थी जो अब वह बिलकुल सूख गई है। उस सूखी नदी का कुछ हिस्सा खोदकर श्मशान का तालाब बना दिया गया है। अब उस तालाब को ही यहां के लोग उस नदी की जगह मानते हैं।

अर्थी को झोंपड़ी के भीतर रखकर चारों जने चिता के लिए आने वाली लकड़ियों का इन्तज़ार करने लगे। बहुत देर तक बैठे-बैठे जब बिलकुल उकता गये तो उनमें से निताई और गुरुचरण यह देखने के लिए चल दिये कि लकड़ी आने में इतनी देर क्यों हो रही है। और बाकी के दो, विधू और वनमाली, अर्थी के पास बैठे रहे।

सावन की अंधेरी रात है। आकाश में चारों ओर बादल मंडरा रहे हैं, कहीं एक तारा तक नहीं दिखाई देता। अंधेरी झोंपड़ी में दोनों जने चुपचाप बैठे हैं। एक के दुपट्टे में दियासलाई और मोमबत्ती बंधी थी, किन्तु बरसात से सर्द हो जाने के कारण दियासलाई बहुत जलाई पर वह जली नहीं। उस पर, साथ में जो लालटेन थी वह भी बुझ गई।

बहुत देर तक चुपचाप बैठे रहने के बाद एक ने कहा, 'भइया, एक चिलम तम्बाकू कहीं से मिल जाती तो बड़ा अच्छा होता। जल्दी में कुछ ला भी तो नहीं सके।'

दूसरे ने कहा, 'मैं चट से जाकर एक दौड़ में सब ला सकता हूं।'

वनमाली के भागने के इरादे को ताड़कर विधू ने कहा, 'हूं, ज़रा सूरत तो देखूं! तुम तो जाओ मौज उड़ाने और मैं यहां अकेला बैठा रहूं, क्यों?'

इसके बाद बातचीत बन्द हो गई। पांच मिनट एक घण्टे के बराबर मालूम होने लगे। जो लकड़ी लाने गये थे उन्हें वे मन-ही-मन गालियां देने लगे। उनके मन का यह सन्देह बढ़ता ही गया कि वे दोनों ज़रूर कहीं आराम से बैठे मज़े से तम्बाकू पीते और गप्पे मारते होंगे।

आस-पास कहीं भी कोई आहट नहीं। सिर्फ तालाब के किनारे से लगातार झींगुरों की झनकार और मेढ़कों की टर्रटर्र सुनाई दे रही है। इतने में कुछ ऐसा लगा जैसे खाट ज़रा कुछ हिली हो, मुरदे ने मानो करवट बदली हो!

वधिू और वनमाली दोनों कांप उठे और राम नाम जपने लगे। इतने में फिर झोंपड़ी में यकायक एक गहरी उसास सी सुन पड़ी। विधू और वनमाली उसी दम उछलकर झोंपड़ी से बाहर निकल आये और सीधे गांव की तरफ भाग खड़े हुए।

~

करीब डेढ़ कोस रास्ता तय करने के बाद उन्होंने देखा कि उनके बाकी दोनों साथी लालटेन हाथ में लिए वापस आ रहे हैं। दरअसल वे तम्बाकू ही पी रहे थे। लकड़ी के बारे में भी पता न था फिर भी उन्होंने समाचार दिया, 'पेड़ काटकर लकड़ी चिरवाई जा रही है, बस अब आने ही वाली समझो!'

जवाब में विधू और वनमाली ने झोंपड़ी का सारा किस्सा कह सुनाया। निताई और गुरुचरण को इस पर विश्वास न हुआ। उन दोनों ने बात जड़ से ही उड़ा दी और अर्थी को यों ही पड़ी छोड़ आने की बेवकूफी पर दोनों को खूब फटकारा। और फिर फालतू देर न करके चारों जने जल्द ही

मसान की उस झोंपड़ी में पहुंचे। भीतर जाकर देखा तो मुरदे का सचमुच ही पता नहीं खटिया खाली पड़ी हुई है!

चारों के चारों एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। सन्देह हुआ कि कहीं सियार न ले गया हो! पर वहां तो ऊपर का कपड़ा तक नहीं है! पता लगाते-लगाते बाहर निकलकर देखा तो झोंपड़ी के दरवाज़े के पास जो थोड़ी-सी कीच जम गई थी उस पर स्त्री के-से छोटे-छोटे पांवों के ताज़े निशान बने-हुए हैं! वे सोचने लगे कि शारदाशंकर-बाबू कोई मामूली आदमी नहीं हैं, उन्हें इस तरह का भूत का किस्सा सुनाकर सहसा उनसे किसी अच्छे नतीजे की उम्मीद करना बेवकूफी है। तब चारों आदमियों ने खूब सोच-विचारकर अन्त में यही तय किया कि उनसे कह दिया जाये कि 'दाहकर्म हो गया' है, बस इसी में खैर है। वरना सबकी जान को तूमत हो जायेगी।

सवेरे जो लोग लकड़ियां लेकर आये उन्हें समाचार मिला कि 'बहुत देर होती देख रात ही को सब काम खत्म कर दिया गया — झोंपड़ी में लकड़ियां मौजूद थीं।' इस विषय में जल्दी किसी को सन्देह भी नहीं हो सकता, क्योंकि मुरदा कोई ऐसी कीमती चीज़ नहीं कि जिसे कोई धोखा देकर उड़ा ले जायेगा।

2

सभी जानते हैं कि कभी-कभी रुग्ण शरीर में जीवन का जब कोई लक्षण ही नहीं पाया जाता तब भी बहुधा उसमें प्राण मौजूद रहते हैं और यथासमय फिर उस मुरदा जैसे शरीर में सांस चलने लगती है। कादम्बिनी भी असल में मरी नहीं थी; सहसा किसी कारण से हउसके हृदय की धड़कन बन्द हो गई थी।

जब वह सचेत न हो उठी तो उसने देखा कि उसके चारों तरफ घोर अन्धकार-ही-अन्धकार है! उसे मालूम हुआ कि हमेशा जहां वह सोती थी यह वह जगह नहीं है। एक बार उसने पुकारा, 'जीजी!' किन्तु अंधेरे घर में किसी ने कुछ जवाब ही नहीं दिया। डरते-डरते वह उठकर बैठ गई और कुछ देर पहले की अपने मरने की बात याद आते ही उसके रोंगटे खड़े हो गये। उफ्, अचानक उसकी छाती के भीतर कैसा ज़बरदस्त दर्द उठा था और दम घुटने लगा था। उसकी जिठानी घर के एक कोने में बैठी अंगीठी पर बच्चे के लिए दूध गरम कर रही थी। मारे दर्द के उससे खड़ा न रहा गया और वह पछाड़ खाकर बिछौने पर गिर पड़ी थी। उसने रुंधे हुए स्वर से कहा था, 'जीजी, ज़रा लल्ला को ले आओ मेरे पास, मेरा जी बड़ा घबरा रहा है।'

उसके बाद उसकी आंखों के आगे सब काला स्याह हो गया। मानो किसी लिखी हुई कापी पर दवात उलट पड़ी हो। फिर उसकी सारी स्मृति और चेतना, विश्व-ग्रन्थ की सारी लिखावट, पल-भर में एकाकार हो गई। बेचारी विधवा को इतनी भी सुध नहीं कि उसके प्यारे लल्ला ने एक बार उसे आखिरी वक्त स्नेह और ममता से भरे अपने मीठे गले से 'चाची' कहकर पुकारा था या नहीं। उसे इतनी भी याद नहीं कि वह अपनी इस अनन्त और अज्ञात मरण-यात्रा की लम्बी गैल के लिए अपनी चिर-परिचित पृथ्वी से लल्ला के उस अन्तिम स्नेह के तोशे 'चाची' सम्बोधन को साथ लाई

है या नहीं।

पहले तो उसे ऐसा लगा कि यमपुरी शायद ऐसी ही सुनसान और चिर-अन्धकारमय होती होगी। वहां कुछ भी देखने को नहीं, सुनने को नहीं, काम नहीं, काज नहीं, हमेशा सिर्फ इसी तरह उठकर जागकर अंधेरे में बैठा रहना पड़ता है।

उसके बाद जब खुले हुए दरवाज़े से अचानक बरसाती ठण्डी हवा का एक झोंका आया और मेढ़कों की टर्रटर्र कानों में पड़ी तो उसी क्षण उसके मन में अपने छोटे-से जीवन की बचपन से लेकर अब तक की सारी-की-सारी वर्षा-ऋतुओं की याद जाग उठी। और फिर उसे अपने नीचे ज़मीन के संस्पर्श का अनुभव हुआ। इतने में एक बार बिजली चमक उठी और उसके क्षणिक प्रकाश में सामने तालाब, बरगद का पेड़, दूर तक फैला हुआ मैदान और पेड़ ही पेड़ नज़र आये। और याद उठ आई कि कभी-कभी पुण्य-तिथि के दिन इस तालाब के किनारे आकर उसने स्नान किया है और तब इसी श्मशान में मुरदा देखकर मृत्यु उसे कैसी भयानक जान पड़ती थी!

पहले तो उसके मन में आई कि घर लौट चले। फिर सोचने लगी कि 'मैं ज़िन्दा नहीं हूं, मुझे घर में कोई घुसने क्यों देगा? वहां जाने से घरवालों का अमंगल होगा जो। जीव-राज्य से मुझे तो देश-निकाला मिल चुका है। मैं तो अपनी प्रेतात्मा हूं!'

अगर ऐसा न हुआ होता तो वह इस अंधेरी रात में शारदाशंकर के सुरक्षित अन्तःपुर से इस दुर्गम श्मशान में आई कैसे? अब भी अगर उसका दाह-कर्म खत्म नहीं हुआ तो दाग देने वाले आदमी सब कहां चले गये? शारदाशंकर के प्रकाशमय मकान में उसे अपने मरने की अन्तिम घड़ियों का स्मरण हो आया। बस, उसके बाद ही गांव से बहुत दूर इस अन्धकारमय सुनसान श्मशान में अपने को अकेली देखकर उसने समझ लिया कि अब वह इस पृथ्वी के मनुष्य-समाज की कोई भी नहीं है। और फिर वह मन-ही-मन सोचने लगी कि 'अब तो मैं अपनी प्रेतात्मा हूं। मैं अत्यन्त भीषण हूं, सबके लिए अकल्याणकारिणी हूं। अब मुझसे किसी का हित नहीं हो सकता, सबका अहित ही होगा।'

मन में इन सब बातों का उदय होते ही उसे ऐसा लगने लगा कि उसके चारों ओर से सांसारिक कायदे-कानून के सारे बन्धन मानो टूटकर गिर पड़े हैं। मानो अब उसमें एक अद्भुत शक्ति आ गई है, असीम स्वाधीनता आ गई है, अब वह जहां चाहे जा सकती है, जो चाहे कर सकती है। इस तरह के अभूतपूर्व और विचित्र भाव उसके मन में आते ही वह उन्मत्त-सी हो उठी और सहसा आंधी की तरह झोंपड़ी से बाहर निकलकर अन्धकारमय श्मशान के ऊपर से सन्नाती हुई चल दी। उसके मन में लज्जा-भय-चिन्ता का लेशमात्र भी न रहा।

बहुत देर तक चलते-चलते उसके पैर थक गये और देह में भी थकावट आने लगी। वह मैदान पर मैदान पार करती गई, किन्तु उनका छोर न आया। बीच-बीच में धान के खेत पड़ते थे और कहीं-कहीं घुटुअन पानी भी जमा था।

~

जब पौ फटी और कुछ-कुछ सवेरे का उजाला दिखाई दिया तब एक गांव के किनारे की बस्ती में पेड़ों पर चिड़ियों की चुहचुहाट सुनाई देने लगी।

उसे कैसा तो डर-सा मालूम होने लगा। पृथ्वी के साथ, जीवित मनुष्यों के साथ अब उसका कैसा नया सम्बंध हो गया है, उसकी उसे कोई खबर तक नहीं। जब तक वह मैदान में थी, श्मशान में थी, सावन की रात के अंधेरे में थी, तब तक मानो वह निर्भय थी और अपने राज्य में थी। किन्तु दिन के उजाले में आदमियों की बस्ती उसे बहुत ही डरावनी जगह मालूम होने लगी। आदमी भूत से डरता है और भूत आदमी से। मृत्यु — नदी के दोनों किनारों पर दोनों का निवास है।

3

कादम्बिनी के कपड़े कीच से सन रहे थे। अद्भुत वेश था उसका। रात भर जागने से वह पागल-सी हो रही थी। चेहरा उसका ऐसा लग रहा था कि आदमी उसे देखकर डर सकते थे और लड़के तो शायद उससे दूर भागकर उस पर ढेले फेंकते। सौभाग्यवश एक राह चलते भले आदमी ने उसे सबसे पहले इस दशा में देख लिया।

उसने पास आकर पूछा, 'बेटी, तुम किसी भले घर की कुलवधू जान पड़ती हो। इस वेश में तुम अकेली कहां जा रही हो?'

कादम्बिनी ने पहले तो कुछ जवाब ही नहीं दिया और एकटक उसके मुंह की तरफ ताकती रही। उसे कुछ जवाब नहीं सूझा। वह संसार में मौजूद है, किसी भले घर की कुलवधू-सी जान पड़ती है, कोई चलता पथिक उससे कुछ पूछ रहा है, — ये सब बातें उसे अनहोनी-सी जान पड़ने लगीं।

पथकि ने उससे कहा, 'चलो बेटी, मैं तुम्हें घर पहुंचा दूं। तुम्हारा घर कहां है, मुझे बताओ?'

कादम्बिनी सोचने लगी, 'ससुराल लौटने की बात तो अब मन में लाना ही फिज़ूल है, वहां स्थान कहां? और मायके में है ही कौन?' और तब उसे बचपन की एक सहेली की याद आ गई। उसकी सहेली योगमाया के साथ यद्यपि उसका छुटपन से ही बिछोह हो गया था फिर भी बीच-बीच में उससे चिट्ठी-पत्री चलती रहती थी। कभी-कभी बड़े ज़ोरों से प्यार की लड़ाई भी चलती थी। कादम्बिनी दिखाना चाहती थी कि उसका प्रेम बहुत ज्यादा है और वह उसे बहुत चाहती है, और योगमाया जताना चाहती कि जितना वह चाहती है उतना उसे सखी की तरफ से प्रेम नहीं मिलता। दोनों ही इस बात का दावा रखती थीं कि किसी मौके पर एक बार दोनों का मिलन हो जाये तो

कोई भी किसी को घड़ी-भर के लिए आंख से ओझल न होने दे।

कादम्बिनी ने उस भले आदमी से कहा, 'आप मुझे निशिन्दापुर में श्रीपति बाबू के घर पहुंचा दीजिये।'

वह पथिक कलकत्ता जा रहा था। निशिन्दापुर यद्यपि पास नहीं था फिर भी उसके रास्ते में ही पड़ता था। उसने स्वयं इन्तज़ाम करके कादम्बिनी को श्रीपति-बाबू के घर पहुंचा दिया।

~

दोनों सखियों में मिलाप हुआ। पहले पहचानने में कुछ देर लगी लेकिन बाद में बचपन का सादृश्य दोनों की आंखों में क्रमशः परिस्फुटित हो उठा।

योगमाया ने कहा, 'आज मेरे बड़े भाग्य हैं! सचमुच, मैं तुम्हें इस तरह इतनी आसानी से देख सकूंगी, इसकी मुझे सपने में भी आशा नहीं थी। पर, बहन, ऐसे कैसे चली आईं तुम, सो तो बताओ? ससुराल-वालों ने तुम्हें यहां आने कैसे दिया?'

कादम्बिनी पहले तो चुप रही। फिर बोली, 'बहन, ससुराल की बात मुझसे न पूछो। मुझे तो तुम अपने यहां दासी की तरह एक कोने में पड़ी रहने देना, मैं तुम्हारा सब काम-काज कर दिया करूंगी।'

योगमाया ने कहा, 'बहन, तुम कैसी बातें कर रही हो! दासी की तरह क्यों रहोगी तुम? तुम तो मेरी सबसे ज्यादा प्यारी सहेली हो! तुम मेरी...' इत्यादि-इत्यादि।

इतने में श्रीपति भीतर आ गये। कादम्बिनी कुछ देर तो उनके मुंह की ओर देखती रही और फिर धीरे-धीरे कमरे से बाहर निकल गई। उसने न तो घूंघट खींचा और न किसी तरह का संकोच या लज्जा का ही भाव दिखाया।

कहीं उसकी सहेली के विरुद्ध श्रीपति कुछ खयाल न कर बैठें इस खयाल से योगमाया ने बड़ी फुर्ती के साथ पति को उसके विषय में तरह-तरह से समझाना शुरू किया। किन्तु इतना कम समझाना पड़ा और श्रीपति ने इतनी जल्दी योगमाया की सब बातें मान लीं कि योगमाया अपने मन में विशेष सन्तुष्ट न हो सकी।

कादम्बिनी सहेली के घर आई तो सही पर सहेली से ज्यादा हिल-मिल न सकी। उसकी अपनी

कल्पना में बीच में मृत्यु की एक दीवार-सी खड़ी रही। जिसके मन में अपने सम्बंध में हमेशा एक तरह का सन्देह और सजग भाव-सा बना रहे उसके लिए दूसरों से हिलना-मिलना कठिन हो जाता है। कादम्बिनी योगमाया के मुंह की ओर देखती और न-जाने क्या-क्या सोचती रहती है। उसे ऐसा लगने लगा कि मानो उसकी सहेली अपने पति और घर-गृहस्थी के साथ उससे बहुत दूर किसी और ही दुनिया में रहती है। मानो उस दुनिया के लोग स्नेह-ममता और कर्त्तव्यों से घिरे-हुए हैं और वह है शून्य छाया। उसकी सखी मानो अस्तित्व के देश में रहती है और वह लटक रही है अनन्त के बीच।

योगमाया का जी भी न-जाने कैसा हो गया। कादम्बिनी का जीवन-रहस्य उसकी कुछ समझ में नहीं आया। स्त्रियों को रहस्य नहीं सुहाता। कारण अनिश्चित को लेकर कविता की जा सकती है, वीरता दिखाई जा सकती है, पाण्डित्य प्रगट किया जा सकता है, और सब-कुछ किया जा सकता है, किन्तु घर-गृहस्थी नहीं की जा सकती। इसीलिए स्त्रियां जिसे समझ नहीं पातीं उसके अस्तित्व को नष्ट करके या तो उससे सब तरह का सम्बंध ही तोड़ लेती हैं, और नहीं तो फिर उसे अपने हाथ से नया रूप देकर अपने काम आने लायक चीज़ बना लेती हैं। अगर इन दोनों में से एक भी बात न हो सकी तो फिर उस पर वे खूब खीझती और झुंझलाती रहती हैं।

और हुआ भी यही। कादम्बिनी ज्यों-ज्यों पहेली की तरह दुर्बोध्य होने लगी त्यों-त्यों योगमाया मन-ही-मन उससे खीझने लगी। वह सोचने लगी कि यह क्या बला आ पड़ी सिर पर! इसके सिवा दूसरी एक और आफत है वह यह कि कादम्बिनी खुद अपने से डरती है। क्या करे, अपने पास से आप वह किसी तरह भाग नहीं सकती। जो भूत से डरते हैं उन्हें अपने पीछे डर जान पड़ता है — जहां दृष्टि नहीं पहुंचती वहीं डर है। किन्तु कादम्बिनी को अपने आपसे सबसे ज्यादा डर है, बाहर नहीं। यही वजह है कि किसी-किसी दिन दोपहर को वह सूनी कोठरी में एकाएक चिल्ला उठती है और रात को दिये के उजाले में अपनी परछाईं देखकर उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

उसकी ऐसी हालत देख कर घर-भर के लोगों के मन में एक तरह का डर पैदा हो गया। नौकर-नौकरानी और योगमाया तक को जहां-तहां और जब-तब भूत दिखाई देने लगा।

एक दिन ऐसा हुआ कि कादम्बिनी आधी रात को अपनी कोठरी में से निकलकर रोती हुई योगमाया के कमरे के दरवाज़े के पास आ खड़ी हुई। और बोली, 'जीजी, जीजी, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूं, मुझे तुम अकेली मत छोड़ा करो।'

योगमाया जैसे डरी वैसे उसे गुस्सा भी खूब आया। मन में आई कि उसी घड़ी उसे निकाल बाहर करे। किन्तु श्रीपति को दया आ गई। उन्होंने बड़ी मुश्किल से उसे शान्त करके बगल की कोठरी में उसके रहने का इन्तज़ाम कर दिया।

~

दूसरे दिन श्रीपति असमय अन्तःपुर में तलब किये गये। योगमाया ने उन्हें सहसा डांटना शुरू कर दिया, 'क्यों जी, तुम कैसे आदमी हो! एक औरत अपनी सुसराल छोड़कर महीने-भर से तुम्हारे घर पर रह रही है, जाने का नाम तक नहीं लेती और तुम्हारे मुंह से 'उंह' तक नहीं निकलती! आखिर बात क्या है? तुम चाहते क्या हो, कम-से-कम मालूम तो पड़े। छि-छि, तुम मरदों की जात ही ऐसी होती है!'

वास्तव में स्त्री-जाति पर पुरुषों का एक प्रकार का बिना-विचार का पक्षपात होता है; और उसके लिए स्त्रियां ही उन्हें अधिक अपराधी समझा करती हैं। असहाय किन्तु सुन्दर कादम्बिनी पर श्रीपति की करुणा उचित मात्रा से कुछ ज़्यादा थी और इस बात के विरुद्ध वे योगमाया की देह छूकर कसम खाने को तैयार भी रहते, किन्तु फिर भी उनके आचरण से योगमाया की धारणा ही पुष्ट होती थी।

वे मन-ही-मन सोचा करते कि 'सुसराल वाले इस पुत्र-हीन विधवा के साथ ज़रूर निर्दय व्यवहार करते होंगे, इसी से बेचारी ने वहां बहुत दुःख पाने के बाद हमारे घर में आकर आश्रय लिया है। जब कि इसके मां-बाप कोई भी नहीं हैं तो मैं इसे कैसे निकाल दूं?' यही समझकर अब तक उन्होंने कादम्बिनी के विषय में कुछ जांच-पड़ताल नहीं की और कादम्बिनी से भी ऐसी बातें पूछकर उसका जी दुखाना उचित नहीं समझा।

कनि्तु उनकी वहां सुनता कौन है! उनकी स्त्री ने उनकी निश्चेष्ट कर्त्तव्य-बुद्धि पर तरह-तरह से चोट करना शुरू कर दिया, और तब वे इस बात को अच्छी तरह समझ गये कि कम-से-कम अपने घर में शान्ति बनाये रखने के लिए कादम्बिनी की सुसराल में खबर पहुंचाना ज़रूरी है। अन्त में यह निश्चय हुआ कि अचानक चिट्ठी पहुंचाने से उसका असर शायद अच्छा न भी हो इसलिए बेहतर है कि वे खुद ही रानीहाट जाकर मामले को समझ आयें।

श्रीपत रानीहाट चले गये। और इधर योगमाया ने आकर कादम्बिनी से कहा, 'बहन, अब यहां तुम्हारा रहना अच्छा नहीं मालूम देता। लोग क्या कहेंगे!'

कादम्बनिी ने गम्भीर दृष्टि से योगमाया के मुंह की ओर देखते हुए कहा, 'लोगों के साथ मेरा सम्बंध ही क्या है?'

जवाब सुनकर योगमाया दंग रह गई। उसने गुस्से में आकर कहा, 'तुम्हारा न सही, हमारा तो है। पराये-घर की बहू-बेटी को हम कैसे, क्या कहकर अपने यहां रोक रक्खें!'

कादम्बनिी ने कहा, 'मेरी सुसराल है कहां?'

योगमाया ने अपने मन में कहा, 'मर कलमुंही, कहती क्या है!'

कादम्बिनी धीरे-धीरे कहने लगी, 'मैं क्या तुम लोगों की कोई हूं? मैं क्या अब इस संसार की हूं? तुम लोग हंसते हो, खेलते हो, प्यार करते हो, सब कोई अपने-अपनों के साथ आनन्द से रहते हो — मैं तो सिर्फ देखती भर हूं। तुम लोग आदमी हो पर मैं हूं छाया। मेरी समझ में नहीं आता, भगवान ने मुझे तुम लोगों की घर-गृहस्थी के बीच क्यों डाल रक्खा है! तुम लोग भी डरते हो कि कहीं तुम्हारे हंसी-खेल में मैं अमंगल न ला दूं और मैं भी समझ नहीं पाती कि तुम लोगों से मेरा क्या सम्बंध है। पर, भगवान ही ने जब हम लोगों के लिए कोई अलग जगह नहीं बनाई तो फिर तुम्हीं बताओ क्या किया जाये? इसी से तो मुझे, सब तरह का बन्धन टूट जाने पर भी, तुम्हीं लोगों के आस-पास रहना पड़ रहा है।'

कादम्बिनी ने ये बातें योगमाया के मुंह की तरफ देखते हुए इस ढंग से कही कि योगमाया न-जाने क्या का क्या समझ गई! असल बात को शायद वह समझ ही न सकी न कुछ उत्तर ही दे सकी और आगे वह कुछ पूछ भी न सकी। अत्यन्त भारग्रस्त और गम्भीर होकर वह वहां से चली गई।

4

रात के करीब दस बजे होंगे। श्रीपति रानीहाट से लौट आये। खूब ज़ोर की मूसलधार वर्षा हो रही है। उसके लगातार झरझर शब्द से मालूम होता है कि न आज वर्षा खत्म। होगी न रात।

योगमाया ने पूछा, 'क्या हुआ?'

श्रीपति ने कहा, 'बहुत-सी बातें हैं, पीछे बताऊंगा।' यह कहते हुए उन्होंने कपड़े उतारे, हाथ-मुंह धोया, खाया-पीया, और फिर तम्बाकू पीते हुए सोने चले गये। बड़े चिन्तित-से मालूम हुए।

योगमाया बहुत देर से अपने कुतूहल को दबाये बैठी थी। पलंग पर पहुंचते ही पूछने लगी, 'हां, बताओ अब, क्या हुआ?'

श्रीपति ने कहा, 'ज़रूर तुमने गलती की है।'

सुनते ही योगमाया को ज़रा गुस्सा-सा आ गया। 'गलती तो स्त्रियों से कभी हो ही नहीं सकती!' और अगर हो भी जाये तो किसी बुद्धिमान पुरुष को उसका ज़िक्र नहीं करना चाहिए, उसे अपने ऊपर ले लेना ही ठीक है। योगमाया ने कुछ गरम होकर कहा, 'कैसे, ज़रा मैं भी तो सुनूं?'

श्रीपति ने कहा, 'जिस स्त्री को तुमने अपने घर में रख रक्खा है, वह तुम्हारी कादम्बिनी नहीं है।'

ऐसी बात सुनकर सहज ही क्रोध आ सकता है और खासकर अपने पति के मुंह से सुनने पर तो फिर कहना ही क्या! योगमाया ने कहा, 'अपनी सहेली को मैं नहीं पहचानती, तुम्हारे बताने पर पहचानूंगी, क्यों? तुम्हारी बात सुनकर हंसी भी आती है और गुस्सा भी। बात करने का ढंग तो देखो!'

श्रीपति ने समझाया, 'यहां बात करने के ढंग पर कोई बहस नहीं हो रही सबूत देखना चाहिए। तुम्हारी सहेली जो कादम्बिनी थी वह तो कभी की मर चुकी। इसमें रत्ती-भर भी सन्देह नहीं।'

योगमाया ने कहा, 'ज़रा इनकी बातें तो सुनो! ज़रूर तुम कुछ-न-कुछ गलती कर आये हो। न-जाने कहां के मारे कहां तो पहुंचे होगे और क्या सुनते क्या सुना होगा! कोई ठिकाना है तुम्हारा! तुम्हें खुद जाने को किसने कहा था। एक चिट्ठी डालकर पूछ लेते तो सब मामला ही साफ़ हो जाता।'

अपनी कार्यकुशलता पर स्त्री का विश्वास न जमते देख श्रीपति बड़े दुःखित हुए, और विस्तृत-रूप से तमाम प्रमाणों का प्रयोग करने लगे। पर नतीजा कुछ न निकला और दोनों ओर से 'हां' 'ना' होते-करते रात के बारह बज गये।

यद्यपि कादम्बिनी को इसी घड़ी निकाल बाहर करने में पति-पत्नी में कोई भी मतभेद न था — कारण, श्रीपति समझते थे कि उनके अतिथि ने झूठा परिचय देकर उनकी स्त्री को धोखा दिया है, और योगमाया को विश्वास था कि कादम्बिनी कुल में दाग लगाकर निकल आई है — फिर भी मौजूदा बहस में दोनों में से कोई भी हार मानने को तैयार नहीं था। धीरे-धीरे दोनों का कण्ठ स्वर ऊंचा हो चला और दोनों ही इस बात को भूल गये कि बगल की कोठरी में कादम्बिनी सो रही है।

एक कहता, 'अच्छी आफत में जान फंसी! मैं अपने कानों से सुन आया हूं, तो भी तुम नहीं मानतीं!'

दूसरी दृढ़ता के साथ कहती, 'मान कैसे लूं, मैं अपनी आंखों से देख रही हूं जो!'

अन्त में योगमाया ने पूछा, 'अच्छा कादम्बिनी कब मरी है, बताओ?'

उसने मन-ही-मन तय किया कि वह कादम्बिनी की किसी एक चिट्ठी की तारीख के साथ उसके मरने की तारीख में फ़र्क दिखाकर पति की गलती साबित कर देगी।

कन्तिु श्रीपति ने जो तारीख बताई उससे दोनों ने हिसाब लगाकर देखा कि जिस दिन शाम को कादम्बिनी उनके घर आई थी उस दिन की तारीख ठीक उससे एक दिन पहले की पड़ती है। सुनते ही एकाएक योगमाया की छाती कांप उठी, और श्रीपति के मन में भी दहशत-सी बैठ गई।

इतने में कमरे का दरवाज़ा खुल गया और बरसाती हवा के पहले ही झोंके से चट से दिया बुझ गया। बाहर के अंधेरे ने घर में घुसकर कमरे भर में अंधेरा कर दिया। और इसके साथ-साथ कादम्बिनी भी एकदम घर के भीतर आ खड़ी हुई। उस समय करीब ढाई पहर रात बीत चुकी थी और बाहर ज़ोरों से पानी पड़ रहा था।

कादम्बनी ने कहा, 'सखी, मैं तुम्हारी वही कादम्बिनी हूं किन्तु अब मैं ज़िन्दा नहीं हूं, मरी-हुई हूं।' योगमाया मारे डर के चिल्ला उठी और श्रीपति के मुंह से भी कोई आवाज़ ही नहीं निकली।

कादम्बनी कहने लगी, 'किन्तु एक मरने के सिवा मैंने तुम लोगों का और क्या बिगाड़ा है? मेरे लिए अगर इस लोक में और परलोक में कहीं भी कोई जगह ही नहीं, तो क्यों जी, अब मैं कहां जाऊं?' — तीव्र स्वर से चीत्कार करके मानो उसने इस गम्भीर वर्षा-निशीथ में सोते हुए विधाता को जगाकर पूछा, 'तो, क्यों जी, अब मैं कहां जाऊं?'

इतना कहकर और उस मूर्च्छित दम्पति को वहीं अंधेरे घर में छोड़कर कादम्बिनी उसी वक्त वहां से निकलकर विश्व-संसार में अपने लिए जगह ढूंढ़ने चल दी।

5

कादम्बनी किस तरह रानीहाट पहुंची यह बताना कठिन है। वहां पहुंचकर पहले तो उसने अपने को किसी की निगाह में नहीं पड़ने दिया; तमाम दिन भूखी-प्यासी एक टूटे-फूटे पुराने खंडहर मन्दिर में पड़ी रही और फिर वर्षा की अकाल-संध्या जब अत्यन्त घनी हो आई और शीघ्र ही भारी आंधी-मेह आने की आशंका से गांव के लोग जब जल्दी-जल्दी अपने-अपने घर पहुंचकर निश्चिन्त होने लगे तब वह खण्डहर में से निकलकर सड़क पर आई। ससुराल के द्वार पर पहुंचते ही एक बार उसका हृदय कांप उठा, फिर भी, साहस करके, लम्बा घूंघट खींचकर जब वह भीतर घुसी तो दासी समझकर दरबानों ने उसे रोका नहीं। इतने में पानी भी खूब ज़ोरों से पड़ने लगा और हवा भी खूब तेज़ चलने लगी।

उस समय घर की गृहिणी, शारदाशंकर की स्त्री, अपनी विधवा ननद के साथ बैठी ताश खेल रही थीं। महरी थी रसोई-घर में। और बीमार बच्चा, बुखार कुछ ढीला पड़ जाने से, बिस्तर पर पड़ा

सो रहा था।

कादम्बनिी सबकी आंख बचाकर सीधी उस कमरे में पहुंची जहां उसका 'आंखों का तारा', 'चाची का दुलारा' सो रहा था। मालूम नहीं कादम्बिनी क्या सोचकर सुसराल आई थी। शायद वह स्वयं भी न जानती होगी। वह तो सिर्फ इतना ही जानती थी कि एक बार अपने प्यारे बच्चे को आंखों से देख आवे। उसके बाद कहां जायेगी ये सब बातें सोची तक न थीं।

दयि के उजाले में उसने देखा कि रोग से पीड़ित मुरझाया हुआ उसका कमज़ोर लाड़ला लाल हाथों की मुट्ठी बांधे पड़ा सो रहा है। देखते ही विधवा का उत्तप्त हृदय मानो प्यास से व्याकुल हो उठा। उसकी सारी बलाओं को टालकर उसे एक बार उठाकर छाती से बिना लगाये वह कैसे जी सकती है! और उसके बाद, फिर सोचने लगी कि 'मैं नहीं हूं, इसको देखने वाला कौन है! इसकी मां को तो सोहबत अच्छी लगती है, दिन-भर गप्पें करा लो, ताश खिलवा लो। इतने दिन बच्चे को मेरे हाथ सौंपकर वह निश्चिन्त थी; कभी उसे लड़का पालने की दिक्कत नहीं उठानी पड़ी। अब इसकी उतनी देखभाल कौन करता होगा!'

ठीक इसी समय बच्चे ने सहसा करवट बदली, और उसी तरह अर्धनिद्रित अवस्था में बोल उठा, 'चाची, पानी!'

'हाय भगवान! सोने का सूआ मेरा! तू अपनी चाची को अभी तक नहीं भुला!' कादम्बिनी ने जल्दी से सुराही में से गिलास में पानी उंड़ेला और बच्चे को अपनी छाती से लगाकर बड़े प्यार से धीरे-धीरे पिला दिया।

जब तक नींद की खुमारी थी, हमेशा के अभ्यास के अनुसार 'चाची' के हाथ से पानी पीने में बच्चे को कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। पर अन्त में कादम्बिनी ने जब बहुत दिनों की अपनी आकांक्षा मिटाने के लिए उसका मुंह-हाथ चूमकर उसे फिर से सुलाना चाहा तो चट से उसकी नींद उचट गई और अपनी चाची से लिपटकर वह पूछने लगा, 'चाची, तू मल गई थी?'

चाची ने कहा, 'हां बेटा!'

'फिर तू मेले पास लौट आई है? अब तू मलेगी तो नईं-न?'

कादम्बनिी उसकी बात का उत्तर दे भी न पाई थी कि एक घटना और हो गई। महरी एक कटोरे में दूध-साबू लिये घर में घुस रही थी और कादम्बिनी को देखते ही वह यकायक कटोरा पटककर

'हाय अम्मा' चिल्लाती हुई ज़मीन पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

चल्लिाहट सुनते ही ताश पटककर मालकिन दौड़ी आईं और कमरे में पैर रखते ही वे भी काठ के ठूंठ की तरह खड़ी की खड़ी रह गईं, न भाग ही सकीं, न मुंह से कुछ बोल ही सकीं।

यह सब देखकर लड़के के मन में भी डर-सा बैठ गया, और वह भी रोने लगा। बोला, 'चाची, तू जा।'

कादम्बनिी को बहुत दिन बाद आज अनुभव हुआ कि वह मरी नहीं है। वही पुराना घर-द्वार, वही सब कुछ, वही लल्ला, वही स्नेह, सभी कुछ उसके लिए समान जीवित दशा में ही है, बीच में कोई विच्छेद नहीं, कोई व्यवधान नहीं। सहेली के घर जाकर उसने अनुभव किया था कि उसकी बाल्यकाल की वह सहेली मर गई है पर आज अपने लल्ला के पास आकर उसे मालूम हुआ कि 'लल्ला की चाची' तो रत्ती-भर भी नहीं मरी!

व्याकुल होकर वह बोल उठी, 'जीजी, तुम लोग मुझे देखकर डर क्यों रही हो? यह देखो, मैं तुम्हारी वही 'छोटी-बहू' हूं, वही, वैसी ही तो हूं!'

बड़ी-बहू से खड़ा न रहा गया, वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

इतने में बहन के ज़रिये खबर पाकर शारदाशंकर-बाबू स्वयं अन्तःपुर में आ पहुंचे। उन्होंने हाथ जोड़कर कादम्बिनी से कहा, 'छोटी-बहू, क्या तुम्हें यही चाहिए था? बस, सतीश ही तो हमारे वंश का एकमात्र लड़का है, उस पर तुम क्यों दृष्टि डाल रही हो? हम लोग क्या तुम्हारे गैर हैं? तुम्हारे मरने के बाद से बच्चा दिन पर दिन सूखता ही जा रहा है, इसकी बीमारी इसे छोड़ती ही नहीं। दिन-रात यह 'चाची' 'चाची' पुकारा करता है। जब तुम संसार से विदा ही ले चुकी हो तो फिर यह व्यर्थ की माया-ममता क्यों? इसे भी छोड़ दो, हम लोग तुम्हारा पिण्डदान करके यथोचित सत्कार कर देंगे।'

कादम्बनिी से अब सहा नहीं गया वह तीव्र स्वर से बोल उठी, 'हाय हाय, मैं मरी नहीं हूं! मैं मरी नहीं हूं! हाय, मैं तुम लोगों को कैसे समझाऊं कि मैं मरी नहीं हूं! यह देखो, मैं जिन्दा हूं!' और ज़मीन पर पड़ा हुआ फूल का कटोरा उठाकर वह बार-बार अपने माथे से मारने लगी, उसका भेजा फटकर ज़ोर से खून बहने लगा। वह अपना खून दिखाकर बोली, 'यह देखो, मैं ज़िन्दा हूं!'

शारदाशंकर कठपुतली की तरह खड़े रहे। बच्चा भी डर के मारे घबरा गया, और 'बापू' 'बापू'

पुकारने लगा। दोनों मूर्च्छित स्त्रियां ज़मीन पर पड़ी रहीं।

और कादम्बिनी, 'हाय, मैं मरी नहीं हूं, मरी नहीं हूं!' चिल्लाती हुई घर से बाहर निकली, और सीधी सीढ़ियों से उतरकर अन्तःपुर के तालाब में कूद पड़ी।

शारदाशंकर को ऊपर के कमरे में खड़े-खड़े ही तालाब के गहरे पानी में किसी के कूदने का धमाका सुनाई दिया।

सारी रात पानी बरसता रहा।

उसके दूसरे दिन सवेरे भी वर्षा बन्द नहीं हुई, और दोपहर को भी पानी बरसता रहा।

इस तरह कादम्बिनी ने मरकर साबित किया कि 'वह मरी नहीं थी!'

बंग्ला-रचना : श्राबण (श्रावण) 1249

(जुलाई 1892)